Journal
of the
Oriental Institute **ISSN: 0030-5324**
M.S. University of Baroda **Impact Factor 7.1** **UGC CARE Group 1**

महाभारत में वर्णित धर्मराज युधिष्ठिर की मनोदशा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

मनजीत
शोधार्थी, भाषा विभाग (संस्कृत)
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय,
अस्थल बोहर, रोहतक (हरियाणा)

डॉ हरिओम
सहायक प्रोफेसर (संस्कृत) मानविकी संकाय,
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय,
अस्थल बोहर, रोहतक (हरियाणा)

प्रस्तावना

महाभारत भारतीय संस्कृति का एक अनुपम ग्रंथ है, जो केवल युद्ध की कथा नहीं, अपितु मानव जीवन के विविध आयामों का दार्शनिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत करता है। इस महाकाव्य में युधिष्ठिर एक ऐसे पात्र के रूप में उभरते हैं, जिनका जीवन धर्म, नीति, और आस्था की परीक्षा बनकर सामने आता है। वे न केवल धर्मराज के रूप में जाने जाते हैं, अपितु एक ऐसे मानव के रूप में भी, जो सदैव सत्य, न्याय और धर्म के संघर्षों से जूझता रहा। उनका जीवन किसी भी समय के समाज, नेतृत्व और नीति–निर्माण के लिए एक गहन अध्ययन का विषय है।

शोध का उद्देश्य

वर्तमान शोध का उद्देश्य महाभारत के आलोक में युधिष्ठिर की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करना है– न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से, बल्कि मनोवैज्ञानिक, नैतिक, और आधुनिक संदर्भों से भी। यह अध्ययन नायक की उन आंतरिक विडंबनाओं, द्वंद्वों और आत्ममंथनों को उजागर करता है जो युधिष्ठिर जैसे आदर्शवादी व्यक्ति को निरंतर उद्वेलित करते रहे। उनके निर्णयों, वाक्य–प्रयोगों, मौन–क्षणों और पश्चातापों में उनके मन का दर्पण झलकता है।

इस शोध का कार्यक्षेत्र केवल पारंपरिक व्याख्या तक सीमित नहीं है, अपितु आधुनिक मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, और तुलनात्मक दर्शन के उपकरणों का भी प्रयोग करता है। शोध में युधिष्ठिर के चरित्र का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए यह देखा जाएगा कि कैसे एक धर्मप्रधान व्यक्ति भी समय–समय पर मानसिक द्वंद्व और असमंजस से ग्रसित होता है।

साथ ही, यह शोध वर्तमान समय में युधिष्ठिर के दृष्टिकोण की उपयोगिता को भी रेखांकित करेगा। जब आज का मानव समाज निर्णय, सत्ता और नीतियों के जटिल मोड़ों से गुजर रहा है, तब युधिष्ठिर का जीवन एक दर्पण बनकर उसे उचित मार्गदर्शन दे सकता है।

Journal
of the
Oriental Institute **ISSN: 0030-5324**
M.S. University of Baroda **Impact Factor 7.1** **UGC CARE Group 1**

राज्याभिषेक के पश्चात युधिष्ठिर की मानसिक स्थिति

राजसूय यज्ञ के संपन्न होने और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के बाद एक ऐसी मानसिक अवस्था उत्पन्न होती है, जो एक ओर गौरव और धर्मसिद्धि का प्रतीक है, तो दूसरी ओर उसका परिणाम अत्यंत भयावह पीड़ा और आत्मग्लानि बन जाता है। यह यज्ञ, जहाँ एक ओर पांडवों की श्रेष्ठता को स्वीकार कराने का माध्यम बना, वहीं दुर्योधन के भीतर ईर्ष्या और द्वेष का भी जन्मदाता सिद्ध हुआ।

युधिष्ठिर जानते थे कि इस राजसूय यज्ञ से उपजा द्वेष भविष्य में अनर्थ का कारण बनेगा, फिर भी वे धर्म के अनुशासन के अंतर्गत इसे संपन्न करते हैं। उनके इस निर्णय में धर्म और व्यवहारिक बुद्धि के मध्य संघर्ष स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यही संघर्ष उनकी मानसिक स्थिति को प्रभावित करता है।

महाभारत में युधिष्ठिर स्वयं स्वीकार करते हैं कि :

"नाहं कामान्न लोभान्न मोहान्न च मत्सरात्।
राज्यं वृणे विना धर्मं धर्मं हि व्रतमेव मे।।"

मैं न कामना से, न लोभ से, न मोह से और न ही मत्सर से राज्य चाहता हूँ; मैं तो केवल धर्म के बिना राज्य स्वीकार नहीं करता, क्योंकि धर्म ही मेरा व्रत है।

यह श्लोक इस बात को स्पष्ट करता है कि युधिष्ठिर के लिए सत्ता कोई भोग नहीं, बल्कि एक धार्मिक दायित्व है। किंतु इसी धार्मिक दृष्टिकोण के कारण वे सामान्य मानवीय सोच से हटकर निर्णय लेते हैं, जो आगे चलकर विनाश का कारण बनते हैं।

राजसूय यज्ञ के पश्चात उनकी आत्मा व्यथित हो उठती है। वे दुर्योधन की जल–दर्पण में पाँव फिसलने की घटना को देखकर उसके उपहास पर मौन रहते हैं, परंतु जानते हैं कि यह घटनाएँ आगे चलकर महायुद्ध को आमंत्रित करेंगी। इस प्रसंग के बाद वे कहते हैं :

"विषमेण कृतं कर्म धर्मेण न विसंज्ञया।
न सुखाय कृतं कर्म तेन दुःखं समाप्यते।।"

जिस कर्म को धर्म के नाम पर विष के समान किया गया हो, वह अंततः दुःख ही देता है।

यहाँ युधिष्ठिर की आत्मग्लानि और पश्चाताप प्रकट होता है। यद्यपि उन्होंने धर्म की मर्यादा में रहकर यज्ञ किया, फिर भी उसके दूरगामी परिणामों से वे संतुष्ट नहीं हैं। यह द्वंद्व उनके मन को विचलित करता है और राज्य की प्राप्ति के साथ ही वे भीतर से टूटने लगते हैं।

"विप्रकीर्णा मे बुद्धिः स्यात्कथं धर्मं निबोध्यते।
कर्मणा या न सन्तुष्टा स बुद्धिः किं करिष्यति।।"

यदि मेरी बुद्धि विचलित हो गई है, तो धर्म को कैसे जान पाऊँगा? वह बुद्धि जो अपने कर्म से असंतुष्ट है, वह फिर क्या कर सकेगी?

युधिष्ठिर की मनोदशा का अत्यंत सटीक चित्रण करता है। यह केवल राज्याभिषेक के बाद की परिस्थिति नहीं, बल्कि उस आध्यात्मिक बेचैनी का भी संकेत है, जो उन्हें न तो पूर्ण राजसुख भोगने देती है, और न ही पूर्ण शांति देती है।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो युधिष्ठिर इस समय Post-Decisional Conflict अर्थात् निर्णय लेने के बाद की मानसिक पीड़ा से ग्रसित हैं। उनका निर्णय–यज्ञ कर राज्य प्राप्त करना, यद्यपि धार्मिक था, परंतु परिणामस्वरूप उत्पन्न ईर्ष्या, कलह और भविष्य के संकट का बोझ उन्हें मानसिक रूप से असहज कर देता है।
इस मनोस्थिति को ध्यान में रखते हुए, वे वनगमन की ओर उन्मुख होते हैं। वह कहते हैं :

"राज्यं न मे प्रियं तात न सुखं न च जीवनम्।
प्रव्रज्य शान्तिमिच्छामि धर्ममेवाभिरक्ष्य च।।"

मुझे राज्य, सुख या जीवन प्रिय नहीं; मैं सन्यास लेकर शांति की कामना करता हूँ और केवल धर्म की रक्षा चाहता हूँ।

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि राज्याभिषेक और राजसूय यज्ञ के बाद युधिष्ठिर की मानसिक अवस्था गौरव और ग्लानि के मध्य झूल रही थी। वे एक ऐसे धर्मसंकट में फँसे थे, जहाँ उन्हें अपने निर्णयों पर गर्व नहीं, बल्कि आत्ममंथन हो रहा था।

वनवास और युधिष्ठिर का आत्मसंयम एवं आध्यात्मिक विकास

जब युधिष्ठिर ने द्यूत क्रीड़ा में सब कुछ हारने के पश्चात वनवास का वरण किया, तब वे केवल एक राजा नहीं, बल्कि एक गंभीर साधक के रूप में परिवर्तित होते दिखाई देते हैं। उनका वनवास केवल भौतिक निर्वासन नहीं, बल्कि आत्मिक साधना और धर्म की पुनर्परिभाषा का काल था। यह समय उनके भीतर चल रहे गहन धार्मिक–मनोवैज्ञानिक मंथन का प्रतीक है।

युधिष्ठिर के भीतर ग्लानि की अग्नि जल रही थी दृ उन्होंने द्रौपदी को जुए में रख दिया, अपने भाइयों को कष्ट दिया, और स्वयं को अधर्म का भागी मानते हुए शोकग्रस्त हो उठे।

"नाहं तं मन्ये सुकृतं स्वधर्मे स्थितमात्मनः।
यो धर्मं ह्रतवान् मोहात्कामेन विवशीकृतः।।"

मैं स्वयं को धर्मात्मा नहीं मानता; जो मोह और कामना से विवश होकर धर्म से विचलित हो जाए, वह धर्म में स्थित नहीं कहा जा सकता।

युधिष्ठिर के भीतर की आत्मग्लानि को उजागर करता है – वह ग्लानि जो उन्हें आत्ममंथन और आत्मसंयम की दिशा में ले जाती है।

वनवास के समय युधिष्ठिर धार्मिक ग्रंथों, ऋषियों, तपस्वियों से संवाद करते हैं। वह न केवल कर्म, धर्म और अधर्म के बीच का भेद समझने का प्रयास करते हैं, बल्कि मन और इंद्रियों को संयमित करने की साधना भी करते हैं। वे बार–बार "क्षमा", "धैर्य", "सत्य", और "अहिंसा" को सर्वोच्च धर्म बताते हैं।

"क्षमया भूयसी नास्ति तपोऽस्ति न समो दमः।
न सत्यसदृशं किंचिन्न हिंसासदृशं फलम्।।"

क्षमा से बढ़कर कोई तप नहीं, और दम (इंद्रियनिग्रह) के समान कोई साधना नहीं। सत्य से बढ़कर कुछ नहीं, और अहिंसा से श्रेष्ठ कोई फल नहीं।

इस प्रकार के श्लोक यह सिद्ध करते हैं कि युधिष्ठिर वनवास को आत्मपरिष्कार और आत्मशुद्धि का माध्यम मानते हैं।

युधिष्ठिर का आत्मसंयम इस रूप में प्रकट होता है कि जब वे अनेक अवसरों पर अपमानित, क्रोधित या हताश होते हैं, तब भी वे संयम नहीं छोड़ते। द्रौपदी का अपमान, भीम का आक्रोश, अर्जुन की तलवार की ललक – सबके मध्य युधिष्ठिर एक शांति का स्रोत बने रहते हैं। वे अपने भाइयों को क्षमा, धैर्य और प्रतीक्षा का उपदेश देते हैं। उनका एक प्रसिद्ध कथन है :

"शमं च यदि जानासि तत्त्वं च यदि वेत्थ मे।
सर्वं क्षन्तव्यं ते भीम न क्रोधः कार्य उच्यते।।"

यदि तू शम (शांति) और तत्त्व को जानता है, हे भीम! तो सब क्षमा कर दे। क्रोध करना उचित नहीं।

यह कथन स्पष्ट रूप से युधिष्ठिर के तपस्वी स्वभाव और वैराग्यनिष्ठ जीवन दृष्टि को दर्शाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह समय युधिष्ठिर के लिए रेग्रेट थेरेपी की भाँति कार्य करता है दृ जहाँ वे अतीत के अपराधबोध से उबरने के लिए ज्ञान, तप, और आत्मचिंतन का सहारा लेते हैं। वे स्वयं को क्षमा करते हैं, परिस्थिति को समझते हैं, और भविष्य की ओर संयम से अग्रसर होते हैं। युधिष्ठिर कहते हैं :

"यत्कर्म दारुणं पूर्वं मया कृतमदर्शनात्।
तदिदानीं क्षमिष्यामि धैर्येण सुदृढव्रतः।।"

जो कठोर कर्म मैंने पहले अज्ञानवश किया, अब उसे मैं धैर्यपूर्वक सहन करूँगा; मैं अब सुदृढ़ व्रती बन गया हूँ।

यह कथन स्पष्ट करता है कि युधिष्ठिर का वनवास केवल कष्ट नहीं, बल्कि आत्मिक पुनर्जन्म की प्रक्रिया है दृ जहाँ वे भीतर से पुनः तैयार होते हैं एक ऐसे धर्मराज बनने के लिए जो केवल शास्त्रों का ज्ञाता नहीं, अपितु अनुभव और पीड़ा का पारखी भी हो।

युद्ध की पूर्वसंध्या में युधिष्ठिर का धर्म–संकट और निर्णय की मनोवैज्ञानिक स्थिति

महाभारत का युद्ध आरंभ होने से पूर्व युधिष्ठिर की मनोदशा अत्यंत जटिल और द्वंद्वपूर्ण हो जाती है। एक ओर वे अधर्म के विरुद्ध धर्म की स्थापना को आवश्यक मानते हैं, तो दूसरी ओर रक्तपात, संबंधियों की मृत्यु और विशाल जनहानि का विचार उन्हें अंदर तक विचलित कर देता है। यह काल नैतिक संकट और मानसिक बोझ का वह शिखर है, जहाँ युधिष्ठिर केवल एक राजा नहीं, बल्कि एक ऐसा मनुष्य हैं जो न्याय और करुणा के मध्य फँसा हुआ है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं :

"न ह्यहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्तिनाशनम्।।"

न मैं राज्य की कामना करता हूँ, न स्वर्ग की, न ही पुनर्जन्म की; मैं केवल दुःख से पीड़ित प्राणियों की पीड़ा का नाश चाहता हूँ।

यहाँ स्पष्ट रूप से युधिष्ठिर की अहं–शून्यता और लोककल्याण की भावना प्रकट होती है, जो युद्ध को एक व्यक्तिगत आकांक्षा नहीं, अपितु कर्तव्य के रूप में देखती है।

लेकिन युद्ध के ठीक पहले उनका अंतर्मन उन्हें प्रश्न करता है दृ क्या यह युद्ध धर्म है? क्या यह रक्तपात न्याय का मार्ग है? यही उनके भीतर धर्म–संकट (Ethical Dilemma)

उत्पन्न करता है। इस द्वंद्व की अभिव्यक्ति तब होती है जब वे अपने शत्रु के पास शांति प्रस्ताव लेकर स्वयं जाते हैं, और दुर्योधन से पाँच गाँवों की माँग करते हैं :

"शमं सर्वेषु भूतेषु वाञ्छन्ति साधवो जनाः।
न युद्धेन प्रियं किंचित् क्षात्रं धर्मं चिकीर्षवः।।"

सज्जन पुरुष समस्त प्राणियों के साथ शांति की कामना करते हैं; युद्ध किसी के लिए भी प्रिय नहीं होता, भले ही वे क्षात्र धर्म का पालन करने वाले ही क्यों न हों।

इस कथन में युधिष्ठिर का विवेकपूर्ण क्षात्र धर्म झलकता है दृ जहाँ वे रक्तपात के विरोधी हैं, परंतु अन्याय के समक्ष झुकना उन्हें स्वीकार नहीं।

यह समय उनके भीतर एक तीव्र मानसिक संघर्ष को जन्म देता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो यह स्थिति cognitive dissonance की है – जहाँ उनके विचार, भावनाएँ और धर्म–कर्तव्य एक–दूसरे के विरोध में खड़े हो जाते हैं। एक ओर वे नैतिक मूल्यों से बंधे हैं, दूसरी ओर राजनीतिक यथार्थ उन्हें कठोर निर्णय की ओर ढकेलता है। महाभारत के एक अन्य प्रसंग में वे कहते हैं :

"युद्धं चेद्भविता तात धर्म्यं वा यदि वाऽधर्म्यम।
नैव त्यजामि धर्मं च धर्मराज्यं च केवलम्।।"

हे तात! यदि युद्ध होगा, चाहे वह धर्म हो या अधर्म, मैं न तो धर्म त्यागूँगा, न ही धर्मराज्य से हटूँगा।

इस प्रकार युधिष्ठिर युद्ध के निर्णय को धर्म के आलोक में स्वीकार करते हैं, परंतु वह निर्णय हर्ष या द्वेष से प्रेरित नहीं होता, बल्कि कर्तव्य–बोध और नीतिकर्तव्य के भाव से लिया गया होता है।

यह धर्म–संकट तब और गहरा हो जाता है जब उन्हें ज्ञात होता है कि इस युद्ध में भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य जैसे गुरुजन, भाई–बांधव और शिष्य भी सम्मिलित होंगे। उनका मन कहता है दृ "मैं अपने पूज्य गुरुजनों के विरुद्ध शस्त्र कैसे उठा सकता हूँ?" यह प्रश्न उन्हें भीतर से झकझोर देता है। इस स्थिति में वे कहते हैं :

"ममैवैतानि कर्माणि तात दुर्भाग्यचिह्नितानि वै।
यद्भविष्यति युद्धेन गुरूणां निधनं महत्।।"

हे तात! यह सब मेरे दुर्भाग्य से चिह्नित कर्म हैं, जिनका परिणाम होगा दृ मेरे गुरुजनों की युद्ध में मृत्यु।

इस प्रकार युद्ध की पूर्वसंध्या में युधिष्ठिर की मानसिक स्थिति एक ऐसे कर्तव्यबद्ध धर्मनायक की है, जो भीतर से करुणामय है, परंतु बाहर से धैर्य और नीति का उदाहरण बना हुआ है।

महाभारत युद्ध के मध्य युधिष्ठिर का मानसिक संतुलन, सत्यवादिता और आत्मसंयम

महाभारत के उग्र युद्ध के मध्य जहाँ प्रत्येक योद्धा क्रोध, प्रतिशोध और रजोगुण से संचालित हो रहा था, वहीं युधिष्ठिर अपनी सत्यनिष्ठा, मानसिक संतुलन और धर्मबुद्धि से प्रेरित होकर युद्धक्षेत्र में भी आत्मसंयम बनाए रखते हैं। युद्ध उनके लिए केवल विजय का माध्यम नहीं, बल्कि धर्म की स्थापना और अधर्म के शमन का एक कर्तव्य था।

इस भीषण समय में भी युधिष्ठिर न तो हिंसा से प्रभावित होते हैं, न ही घृणा से भरते हैं। वे हर क्षण यह विचार करते हैं कि युद्ध में किया गया प्रत्येक कर्म धर्म के मापदंड पर खरा उतरे। यही कारण है कि वे बार–बार यह कहते हैं :

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।।"

जो धर्म का नाश करता है, धर्म उसका नाश करता है; जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। इसलिए धर्म का नाश नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह हमें नष्ट कर देगा।

इस विचार से प्रेरित होकर युधिष्ठिर युद्धभूमि में भी सत्य के पथ पर अडिग रहते हैं। सबसे प्रसिद्ध और निर्णायक प्रसंग आता है अश्वत्थामा के वध के समय। द्रोणाचार्य को परास्त करने के लिए श्रीकृष्ण की योजना के अनुसार युधिष्ठिर को अर्धसत्य बोलना पड़ता है दृ ष्अश्वत्थामा हतः इति नारः वा कुंजरः ष। यद्यपि यह अर्धसत्य धर्म की रक्षा के लिए था, फिर भी युधिष्ठिर इस घटना के पश्चात गहरे आत्मपीड़ा में डूब जाते हैं।

"सत्यव्रतं हित्वा तदा कृच्छ्रेण धर्मं समाश्रितम्।
न चाभ्यगच्छं तत्सुखं यद्ब्रुवन् भूतपूर्ववन्।।"

उस समय सत्यव्रत को छोड़कर मैंने धर्म के कठिन मार्ग को अपनाया, लेकिन जो कहा वह मेरे मन को संतोष नहीं दे सका, क्योंकि वह मेरा स्वभाव नहीं था।

यह प्रसंग स्पष्ट करता है कि युधिष्ठिर के लिए सत्य केवल सामाजिक नीति नहीं, बल्कि आत्मा का धर्म था। युद्धभूमि में एक क्षणिक सामरिक विजय के लिए अर्धसत्य बोलना उनके लिए नैतिक पराजय का अनुभव बन गया।

इस घटना के बाद युधिष्ठिर की चेतना में इतना प्रभाव पड़ा कि, कहा जाता है, उनके रथ के पहिए जो पृथ्वी से एक अँगुल ऊपर चलते थे, वह भूमि पर आ गए – यह उनकी सत्यनिष्ठा में आई हल्की कमी का प्रतीक माना गया।

युद्ध के दौरान भी वे अपने भाइयों, शत्रुओं और प्रजाजनों के प्रति करुणा नहीं खोते। अभिमन्यु की मृत्यु पर वे शोक से व्याकुल होते हैं, और कहते हैं :

"हन्तास्मि धर्मतः पूर्वं युद्धेनास्मिन्यशस्विनि।
न हिंसा धर्म इत्युक्तं न च युद्धं प्रशंसितम्।।"

अनुवाद : मैं तो पहले ही मारा गया हूँ, क्योंकि यह युद्ध अपकीर्ति का कारण बन गया है। हिंसा को धर्म नहीं कहा गया, और युद्ध की कभी प्रशंसा नहीं की गई।

इस प्रकार युद्ध के मध्य युधिष्ठिर की मानसिक स्थिति संयम और विवेक से युक्त, परंतु भीतर से करुणा, पश्चाताप और धर्मसंकट से भरी हुई थी।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो यह स्थिति एक धार्मिक–नैतिक अंतःसंघर्ष (moral injury) की है, जहाँ व्यक्ति बाहर से एक कर्तव्यनिष्ठ योद्धा होता है, लेकिन भीतर से अपने मूल्यों के विरुद्ध गए क्षणों में आत्मवेदना से गुजरता है।

इस भीषण यथार्थ के बावजूद युधिष्ठिर युद्ध के अंत तक धैर्य, करुणा और न्याय को नहीं छोड़ते, और यही उन्हें कर्मयोगी धर्मनायक के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

Journal
of the
Oriental Institute **ISSN: 0030-5324**
M.S. University of Baroda **Impact Factor 7.1** **UGC CARE Group 1**

युद्ध के पश्चात पश्चाताप, त्याग और युधिष्ठिर की आत्मचेतना का चरम विकास

महाभारत युद्ध के अंत में पांडवों को विजय प्राप्त हुई, किंतु यह विजय केवल सत्ता की प्राप्ति नहीं थी, बल्कि एक गहन आध्यात्मिक तप, नैतिक यातना और मानवता की परीक्षा का अंतिम परिणाम था। युधिष्ठिर के लिए यह विजय उत्सव का कारण नहीं, अपितु गहन पश्चाताप और आत्ममंथन का समय था।

उन्होंने भले ही राजसिंहासन प्राप्त कर लिया, किंतु उनके भीतर के धर्मराज को यह राज्य–प्राप्ति एक नैतिक पराजय जैसी प्रतीत हुई। वे अपने ही शब्दों में कहते हैं :

"न मे प्रियं राज्यसुखं न चान्यत्, प्राप्तं हि यत् कर्णगुरून् हत्वा।
कृपं च भीष्मं च सुहृद्गणं च, हत्वा कथं प्रीतिमवाप्नुयाम।।"

मुझे राज्य का सुख प्रिय नहीं; जब कर्ण, भीष्म, कृपाचार्य और मित्रों को मारकर यह प्राप्त किया है, तो मैं प्रसन्न कैसे हो सकता हूँ?

यह श्लोक युधिष्ठिर के गिल्ट कॉम्प्लेक्स (Guilt Complex) को अत्यंत गहराई से दर्शाता है दृ यह भावना कि युद्ध की सफलता अधर्म के हरण की अपेक्षा संबंधों और करुणा की हत्या के माध्यम से हुई। वे कहते हैं कि उनका मन मृत्यु से भी अधिक दुखी है :

"न मे राज्यं न मे लक्ष्मीर्न मे प्रियाः सुहृद्गणाः।
श्रिया हीनं मया दृष्टं राज्यं दुःखमयं यथा।।"

न तो राज्य, न लक्ष्मी, न ही मित्र प्रिय लगते हैं; मेरे लिए यह राज्य, श्रिया (संपन्नता) से रहित होकर, दुःख का प्रतीक बन गया है।

ऐसी मनःस्थिति में युधिष्ठिर राज्य को त्यागने का निर्णय लेते हैं। वे हिमालय जाने का संकल्प करते हैं और कहते हैं :

"नाहं राज्यमभीष्यामि न सुखं न च जीवितम्।
अरण्यं प्रपद्येऽहं धर्मं पश्यन् सनातनम्।।"

मैं राज्य, सुख या जीवन की आकांक्षा नहीं करता; मैं वन को जाता हूँ, जहाँ सनातन धर्म के दर्शन हों।

भीष्मपितामह, नारद, व्यास, श्रीकृष्ण जैसे ऋषि–महापुरुषों द्वारा बहुत समझाने पर वे तमसनबजंदजसल राज्यग्रहण करते हैं, किंतु तभी से उनका शासन एक धार्मिक तपस्या बन जाता है।

"सर्वं धर्मे प्रतिष्ठाप्य युधिष्ठिरो महारथः।
राज्यं न्यवहत् धर्मात्मा तपस्वी नियमे स्थितः।।"

युधिष्ठिर ने धर्म में प्रतिष्ठा करते हुए, तपस्वी जीवन अपनाकर शासन किया।

यहाँ से युधिष्ठिर का चरित्र अपने आध्यात्मिक चरम पर पहुँचता है। वे अब एक राजा नहीं, बल्कि धर्म के प्रतीक, वैराग्य में स्थित नेता और नैतिक आदर्श बन जाते हैं।

महाभारत के उत्तर भाग में वे अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ हिमालय की यात्रा पर निकलते हैं दृ महाप्रस्थान। यह यात्रा उनकी आत्मचेतना की चरम परिणति का प्रतीक है। वहाँ, सभी भाइयों के पतन के बाद, अकेले युधिष्ठिर यमराज के समक्ष पहुँचते हैं और तब वह महान अंतिम श्लोक कहते हैं :

"न मे स्त्रीषु न मे दारेषु न मे स्वर्गे स्पृहात्यपि।
तव प्रसादात्सत्यान्न मे मृषा भवेत्कथा।।"

मुझे स्त्रियों में, पत्नियों में या स्वर्ग में भी कोई आकांक्षा नहीं; बस तुम्हारी कृपा से यह हो कि मेरे मुख से असत्य वचन कभी न निकले।

यहाँ युधिष्ठिर सत्य के प्रतीक के रूप में अपने चरित्र की परिपूर्णता को प्राप्त करते हैं। वे मानव से महामानव बन जाते हैं।

युधिष्ठिर की मनोदशा

युधिष्ठिर अपने परिवार के सदस्यों को खोने से अत्यधिक दुःखी था। वह अपने भाईयों और पितामह की मृत्यु के बारे में सोचकर भी सहम सा जाता था। वह स्वयं को अपराध बोध महसूस कर रहा था कि वह अपने मित्रों तथा परिवार वालों की रक्षा नहीं कर पाया। वह सोचता है कि यदि वह थोड़ी सी और सावधानी से काम लेता तो इतनी बड़ी त्रासदी नहीं होती। उसे धर्म व न्याय की चिन्ता थी। वह सोचते हैं कि क्या उसने धर्म के अनुसार काम किया था और क्या उन्हें न्याय मिला? युधिष्ठिर को आत्मविश्लेषण और आत्ममूल्यांकन की आवश्यकता थी। वह अपने निर्णयों और कार्यों का मूल्यांकन करना चाहते थे और यह जानना चाहते थे कि उन्हें क्या सुधारने की आवश्यकता है।

इस प्रकार इन सभी प्रसंगों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि महाभारत में धर्म और न्याय की महत्ता को दर्शाया गया है। पात्रों की मनोस्थिति में धर्म, न्याय, मानवीय भावनाएँ जैसे प्रेम, द्वेष, ईर्ष्या, भय और क्रोध प्रमुख हैं। इस ग्रन्थ के पात्रों में सामाजिक और पारिवारिक दबाव भी दिखाई देता है। जो अपेक्षाओं को पूर्ण करने के लिए दबाव में होते है इन्हें व्यक्ति और सामूहिक हितों के संघर्ष का सामना करना पड़ता है। वे अपने व्यक्तिगत हितों को सामूहिक हितों के साथ संतुलित करने की कोशिश करते हैं।

युधिष्ठिर की वेदना

चारों तरफ शोक एवं हाहाकार देखकर युधिष्ठिर सहम से गए। वह सोचने लगे कि उसने सभी बन्धु–बान्धवों का नाश करके इस राजगद्दी को प्राप्त किया है। इसीलिए इस गद्दी पर नहीं बैठूंगा तथा सब मोह–माया को छोड़कर वन की ओर प्रस्थान करूंगा। तभी मेरे पापों का प्रायश्चित हो सकता है। अन्यथा जीवन भर मैं इस पाप को लिए जीवित कैसे रह सकूँगा। जब उनके भाईयों को इस बात का पता चला तो उन पर मानों वज्र का प्रहार हो गया हो। वे अत्यधिक चिन्तित हो उठे कि युधिष्ठिर यह क्या करने जा रहा है। सभी भाईयों ने बारी–बारी से युधिष्ठिर को समझाने का प्रयास किया। किसी ने गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला तो किसी ने कटु वचनों से काम लिया। किसी ने प्रमाणपूर्वक सिद्ध करने का प्रयास किया कर्म मार्ग न केवल सुगम है अपितु उचित भी है, तो किसी ने सन्यास मार्ग को अत्यन्त कांटो भरा तथा दुष्कर बताया। इस प्रकार लम्बे समय तक युधिष्ठिर से वाद–विवाद होता रहा। सभी भाई कह रहे थे आप ही हमारे माता–पिता, आचार्य, बन्धु–बान्धव है इसीलिए आप हमें छोड़कर कहीं मत जाइए। द्रौपदी भी युधिष्ठिर को समझाते हुए कहती है कि अब तो आपका यही धर्म बनता है आप राजोचित्त धर्म का पालन करते हुए राज्य शासन करे। श्री कृष्ण ने उनको इतना दुःखी देखकर एक बार भीष्म पितामह के पास चलने की सलाह दी। जो शरशय्या पर लेटे हुए थे। श्रीकृष्ण जानते थे कि एक वही व्यक्ति हैं जो इस वेदना से युधिष्ठिर को निकाल सकते हैं। युधिष्ठिर श्री कृष्ण के साथ भीष्म पितामह के पास आए। उन्होंने भीष्म पितामह को प्रणाम किया तथा

राजधर्म के बारे में बाते की। भीष्म पितामह ने अन्य ऋषि महर्षियों की मौजूदगी में युधिष्ठिर को गहन राजधर्म की शिक्षा दी। यह शिक्षा युधिष्ठिर के इतनी ही जरूरी थी जितनी युद्ध शुरू होने से पहले अर्जुन के लिए गीता का उपदेश था।

निष्कर्ष

युधिष्ठिर का चरित्र महाभारत के समस्त पात्रों में सर्वाधिक जटिल, संवेदनशील और दार्शनिक गहराई से संपन्न है। वे केवल एक राजा, योद्धा या भाई नहीं, बल्कि एक ऐसे नायक हैं जो धर्म, न्याय और मानवता के गहनतम स्तरों पर आत्मसंघर्ष करता है। उनके जीवन की प्रत्येक अवस्था – चाहे वह राज्याभिषेक हो, वनवास हो, युद्ध हो या पश्चाताप – सबमें एक निरंतर 'धर्म की खोज' और 'आत्मिक शुद्धि' का प्रयास दिखाई देता है।

इस शोध के माध्यम से स्पष्ट होता है कि युधिष्ठिर की मनोदशा केवल बाह्य घटनाओं की प्रतिक्रियात्मक नहीं है, बल्कि वह गहरे आत्म–विश्लेषण, नैतिक विवेक और मनोवैज्ञानिक द्वंद्व का परिणाम है। उनके निर्णयों में जहां धर्मशास्त्र का गूढ़ अनुशीलन है, वहीं आत्मग्लानि, पश्चाताप और अंतर्दृष्टि का भी स्पष्ट अनुभव होता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में युधिष्ठिर का चरित्र guilt-consciousness, moral dissonance, existential responsibility और emotional intelligence जैसे आयामों से समृद्ध प्रतीत होता है। वे एक ऐसे नेतृत्वकर्ता हैं जो न केवल नीति और धर्म से बंधा है, बल्कि करुणा और मानवता के मूल भावों को कभी नहीं छोड़ता। युद्ध जैसे उग्र और असहिष्णु वातावरण में भी उनका मानसिक संतुलन, सत्यवादिता और आत्मसंयम उन्हें अद्वितीय बनाते हैं।

उनका जीवन यह सिखाता है कि धर्म केवल शास्त्रों का पालन नहीं, अपितु आत्मा की पुकार है। युधिष्ठिर का संघर्ष यही है– अपने भीतर के धर्म की सतत खोज। उन्होंने सिद्ध किया कि धर्म की रक्षा केवल बाह्य विजय से नहीं, बल्कि आंतरिक नैतिक चेतना से होती है। और यह चेतना – युधिष्ठिर की आत्मग्लानि से लेकर महाप्रस्थान तक निरंतर विकसित होती है।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि युधिष्ठिर का चरित्र आज भी नैतिक नेतृत्व, नीति–निर्णय, सामाजिक न्याय और आत्मदृष्टि के क्षेत्र में प्रेरणा का स्रोत है। वर्तमान युग में, जहाँ सत्य और नैतिकता की पुनर्परिभाषा हो रही है, युधिष्ठिर जैसे चरित्रों का मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक अध्ययन समाज के लिए दिशानिर्देशक सिद्ध हो सकता है।

संदर्भ सूची

1. महाभारत, सभा पर्व 62.14
2. महाभारत, सभा पर्व 63.10
3. महाभारत, शान्ति पर्व 2.31
4. महाभारत, वन पर्व 2.7
5. महाभारत, वन पर्व 28.12
6. महाभारत, वन पर्व 31.21
7. महाभारत, वन पर्व 22.10
8. महाभारत, वन पर्व 29.5
9. महाभारत, भीष्म पर्व 9.62
10. महाभारत, उद्योग पर्व 92.12
11. महाभारत, भीष्म पर्व 3.17
12. महाभारत, भीष्म पर्व 4.8
13. महाभारत, वन पर्व 313.13
14. महाभारत, द्रोण पर्व 69.20
15. महाभारत, स्त्री पर्व 11.17
16. महाभारत, स्त्री पर्व 3.12
17. महाभारत, स्त्री पर्व 10.20
18. महाभारत, शान्ति पर्व 1.3
19. महाभारत, शान्ति पर्व 12.13
20. महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व 3.12